आर्थिक वृद्धि और विकास: एनरिको कोलंबाट्टो के दृष्टिकोण का विश्लेषण

डॉ. इन्द्र सिंह

अर्थशास्त्र
दीक्षित कॉलेज ऑफ हायर एजुकेशन, रामपुर (उत्तर प्रदेश)

सारांश:-
यह शोध–पत्र आर्थिक वृद्धि के लिए एक व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण तथा विकास के लिए एक संस्थागत दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। विशेष रूप से "विकास" शब्द का संबंध उन प्रचलित नियमों से है, जो आर्थिक गतिविधियों के प्रारंभ के लिए आवश्यक प्रमुख तत्वों जैसे संपत्ति अधिकार और उत्पादक उद्यमिता को प्रभावित करते हैं। दूसरी ओर, "वृद्धि" को ऐसे अनुकूल संस्थागत वातावरण का परिणाम माना गया है, जहाँ अवसरों का उपयोग किया जाता है और व्यक्ति अपनी जीवन–स्थितियों में सुधार करने में सफल होते हैं। यह अध्ययन पद्धति तथा मानक के आधार पर हाल के बढ़ते साहित्य की वैधता पर प्रश्न उठाता है, जिसमें संस्थागत निर्माण पर चर्चा की जाती है, परन्तु उसमें संस्थागत अर्थशास्त्र की भूमिका अपेक्षाकृत सीमित रहती है।

मुख्य शब्द: वृद्धि, विकास, संस्थागत अर्थशास्त्र

शब्दावली से संबंधित प्रश्न:-
यद्यपि अर्थशास्त्र के वास्तविक उद्देश्य पर बहस अभी भी जारी है, फिर भी सामान्यतः "वृद्धि" और "विकास" की अवधारणाओं पर सहमति पाई जाती है। सामान्य रूप से "वृद्धि" का अर्थ सकल घरेलू उत्पाद या प्रति व्यक्ति आय में अनुपातिक परिवर्तन से लिया जाता है। जबकि "विकास" का संबंध जीवन स्तर से होता है, जिसमें ऐसे पहलू भी शामिल होते हैं जिन्हें धन के रूप में मापा नहीं जा सकता। किन्तु इस शोध–पत्र में एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ आर्थिक वृद्धि को क्रय शक्ति के स्थान पर उपभोक्ता अधिशेष में परिवर्तन के रूप में समझा गया है, जबकि "विकास" को संस्थागत ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों से जोड़ा गया है। इस प्रकार यह दृष्टिकोण "वृद्धि" और "विकास" के बीच स्पष्ट भेद स्थापित करता है। जहाँ वृद्धि व्यक्तिनिष्ठ पक्ष से संबंधित है और विकास संस्थागत पक्ष से। इससे संभावित भ्रम की स्थितियों को समझने में सहायता मिलती है। विशेष रूप से, इस खंड में इस दृष्टिकोण से उत्पन्न विभिन्न परिणामों का विश्लेषण किया गया है तथा उनकी तुलना पारंपरिक दृष्टिकोण से पद्धतिगत और मानक के आधार पर की गई है।[1]
खंड 2 में आर्थिक वृद्धि, वृद्धि नीतियों तथा सरकारी हस्तक्षेप पर चर्चा की गई है।
खंड 3 में संस्थागत विकास की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है।
खंड 4 में राजनीति की भूमिका का विश्लेषण किया गया है।
खंड 5 में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

आर्थिक वृद्धि की अवधारणा पर :-
अर्थशास्त्र मानवों के बीच होने वाली स्वैच्छिक पारस्परिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। मनुष्य एक–दूसरे के साथ वस्तुओं का आदान–प्रदान करके अपनी स्थिति में सुधार करते हैं, और यह आदान–प्रदान सामान्यतः अलग–अलग रुचियों तथा कौशलों के आधार पर होता है।[2] व्यक्ति आपस में जानकारी का भी आदान–प्रदान करते हैं, उपलब्ध संसाधनों का बेहतर उपयोग करने के तरीके खोजते हैं, परीक्षण और त्रुटि की प्रक्रिया के माध्यम से अपनी छिपी हुई रुचियों को समझते हैं, तथा समय के साथ अपनी पसंद और आदतों में होने वाले परिवर्तनों का अनुसरण करते हैं। इन्हीं सिद्धांतों व्यक्तिनिष्ठता और पद्धतिगत व्यक्तिवाद के आधार पर यह भी माना जाता है कि मानव कल्याण उस संतुष्टि (या प्रसन्नता) और उन त्यागों या कष्टों के बीच का अंतर है, जिन्हें व्यक्ति को सहना पड़ता है। ये कष्ट कभी अनिवार्य परिस्थितियों (जैसे दुर्भाग्य

[1] असेमोग्लू, डी., जॉनसन, एस., एवं रॉबिन्सन, जे. (2004)। दीर्घकालीन वृद्धि का मूल कारण के रूप में संस्थाएँ। राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो कार्यपत्र श्रृंखला, संख्या 10481।
[2] आर्न्ट, एच. डब्ल्यू. (1987)। आर्थिक विकास: एक विचार का इतिहास। शिकागो: शिकागो विश्वविद्यालय प्रकाशन।

या हिंसा) के कारण होते हैं, तो कभी अपने लक्ष्यों यहाँ तक कि जीवन–निर्वाह को प्राप्त करने के लिए आवश्यक होते हैं।[3]

इस प्रकार, वृद्धि मूलतः एक व्यक्तिगत विषय है और यह संतुष्टि में परिवर्तन तथाध्या श्रम में परिवर्तन से उत्पन्न होती है। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से (और संभवतः उससे पहले से) यही हो रहा है उत्पादकता में वृद्धि ने दोनों पक्षों को प्रभावित किया है। एक ओर व्यक्तिगत उपभोग बढ़ा है, दूसरी ओर कार्य–परिस्थितियाँ सुधरी हैं और प्रति सप्ताह कार्य–घंटों में सामान्यतः कमी आई है। हालाँकि, इसके आगे बहुत कुछ कहना कठिन है। क्योंकि यदि समग्र वृद्धि का कोई मात्रात्मक आकलन करना हो, तो हमें निम्नलिखित बातों को मानना पड़ेगा। कि किसी एक समय पर रहने वाले व्यक्ति के कल्याण को किसी दूसरे समय के व्यक्ति के कल्याण से मापा और तुलना किया जा सकता है। कि इस प्रकार की तुलना के परिणामों को सभी व्यक्तियों के लिए जोड़कर या औसत निकालकर प्रस्तुत किया जा सकता है। कि प्राप्त परिणाम का मूल्यांकन पूरी तरह निष्पक्ष और तटस्थ मानदंडों के आधार पर किया जा सकता है।[4]

वास्तव में ये सभी प्रयास अनेक दृष्टियों से अव्यावहारिक हैं। व्यक्तियों के बीच संतुष्टि और पसंद की तुलना करना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त, सकल घरेलू उत्पाद या प्रति व्यक्ति उपभोग वास्तव में संतुष्टि को नहीं मापते। ये केवल इस बात का मोटा अनुमान देते हैं कि क्रय–शक्ति प्राप्त करने के लिए कितना प्रयास किया गया और उसके बदले में कितना आर्थिक प्रतिफल मिला। दुर्भाग्यवश, यह बहुत कम ज्ञात है कि क्रय–शक्ति से वास्तव में कितनी प्रसन्नता प्राप्त होती है, और यह तो और भी कम ज्ञात है कि बिना धन के उपयोग के लोग कितनी संतुष्टि प्राप्त करते हैं। प्रसन्नता का आकलन करने के प्रयास मुख्यतः गुणात्मक सर्वेक्षणों के माध्यम से किए जाते हैं, जहाँ लोगों से पूछा जाता है कि वे स्वयं को कितना प्रसन्न महसूस करते हैं। यद्यपि ये आँकड़े प्रसन्नता के घटकों के बारे में कुछ जानकारी देते हैं, परन्तु वे यह नहीं बताते कि लोग अपने लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कितना कष्ट सहने को तैयार हैं।

इसके अलावा, यह भी संदेह किया जा सकता है कि प्रसन्नता वास्तव में उपभोक्ता अधिशेष का सही प्रतिनिधित्व करती है या नहीं।[5] संतुष्टि एक सापेक्ष भावना है, जो अन्य लोगों की स्थिति से तुलना पर आधारित होती है। जिससे ईर्ष्या, शक्ति और प्रतिष्ठा की इच्छा उत्पन्न होती है। यह एक अनुकूलन प्रक्रिया का भी अनुसरण करती है। जब भविष्य में सुधार की संभावना दिखाई देती है, तो संतुष्टि बढ़ती है। और जब उपभोग में सुधार नहीं होता, तो संतुष्टि घट जाती है। इसी कारण यह देखा गया है कि पश्चिमी देशों में हाल के दशकों में प्रति व्यक्ति आय में काफी वृद्धि हुई है, जबकि औसत प्रसन्नता लगभग स्थिर रही है या कभी–कभी घट भी गई है। इसी प्रकार, विभिन्न देशों में आय और प्रसन्नता के बीच संबंध तो पाया जाता है, लेकिन उसका प्रभाव सीमित और घटता हुआ होता है।

विकास की अवधारणा :-

दूसरी ओर, यहाँ "विकास" को संस्थागत परिवर्तन की समस्या के रूप में समझा गया है। जहाँ "संस्थागत" शब्द का अर्थ उन नियमों से है जिनके अंतर्गत व्यक्ति कार्य करते हैं। ये नियम कभी ऐसे मानदंड होते हैं जिन्हें बल प्रयोग और विश्वसनीय दंड के माध्यम से लागू किया जाता है (जैसे कानून)। या फिर ये व्यवहार के ऐसे ढाँचे होते हैं जो परंपराओं, आदतों और साझा विचारधाराओं से उत्पन्न होते हैं, जिनका पालन नैतिक समझाइश, सामाजिक प्रशंसा या निंदा के माध्यम से कराया जाता है, न कि औपचारिक दंड व्यवस्था के माध्यम से। आदर्श रूप से, एक शास्त्रीय उदारवादी व्यवस्था में संस्थागत ढाँचा आर्थिक स्वतंत्रता की गारंटी देता है, अर्थात् नकारात्मक स्वतंत्रता (दबाव से मुक्ति), निजी संपत्ति के अधिकारों की सुरक्षा और अनुबंध की स्वतंत्रता।[6]

हालाँकि, वास्तविकता में अक्सर यही संस्थाएँ व्यक्तिगत निर्णयों में हस्तक्षेप को भी वैध ठहराती हैं, भले ही कानून का शासन लागू हो। संस्थाओं का वर्गीकरण विभिन्न तरीकों से किया गया है, विशेषकर इस आधार पर कि वे कितनी आर्थिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान करती हैं।

इस शोध–पत्र के उद्देश्य के लिए, संस्थाओं का उपयोग "विकास" की एक नई परिभाषा प्रस्तुत करने के लिए किया गया है, जो किसी निश्चित समय पर किसी भौगोलिक क्षेत्र में प्रचलित नियमों के आधार पर निर्धारित होती है।

विशेष रूप से :-

---

[3] बॉअर, पी. (1998)। निर्वाह, व्यापार और विनिमय। जे. डॉर्न, एस. हैंके तथा ए. वाल्टर्स (संपादक), विकास अर्थशास्त्र में क्रांति (पृ. 275–287)। वॉशिंगटन डी.सी.: कैटो संस्थान।

[4] बाउमोल, डब्ल्यू. (1990)। उद्यमिता: उत्पादक, अनुत्पादक तथा विनाशकारी। राजनीतिक अर्थशास्त्र पत्रिका, 98(5), 893–921।

[5] बोएटके, पी., एवं कॉयने, सी. (2003)। उद्यमिता और विकास: कारण या परिणाम? आर. कोप्पल (संपादक), ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्र और उद्यमिता अध्ययन (पृ. 67–88)। एम्स्टर्डम: जेएआई।

[6] कैसेली, एफ. (2004)। देशों के बीच आय के अंतर का विश्लेषण। राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो कार्यपत्र श्रृंखला, संख्या 10828।

"विकसित देश" वह है जहाँ संस्थागत ढाँचे ने लंबे समय तक आर्थिक स्वतंत्रता का सम्मान किया है।
"विकासशील देश" वह है जहाँ आर्थिक स्वतंत्रता बढ़ रही है, जिससे उत्पादकता में वृद्धि हो रही है।
"अविकसित देश" वे हैं जहाँ आर्थिक स्वतंत्रता का स्तर बहुत कम है।

इस प्रकार, विकास अब किसी पूर्व निर्धारित साझा लक्ष्य (जैसे कृषि आत्मनिर्भरता या आय समानता) के निकट पहुँचने पर निर्भर नहीं करता।[7]

किस प्रकार का वृद्धि सिद्धांत वास्तव में संभव है :-

अधिकांश पारंपरिक अर्थशास्त्रियों स्मिथ को छोड़कर ने वृद्धि और विकास पर अधिक ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उन्होंने उस सबसे महत्वपूर्ण तत्व को अनदेखा कर दिया जो वृद्धि प्रक्रिया को संचालित करता है, अर्थात् उत्पादक उद्यमिता। उनके दृष्टिकोण में वृद्धि मुख्यतः निवेश के माध्यम से संभव होती है, और यह निवेश पूँजी पर अपेक्षित (और क्रमशः घटते हुए) लाभ से प्रेरित होता है। ऐसे संसार में जहाँ उत्पादक उद्यमिता का अभाव हो (और इस कारण तकनीकी प्रगति का नवाचारी आर्थिक गतिविधियों में सीमित स्थानांतरण हो), वहाँ जनसंख्या वृद्धि और पूँजी के क्षय की पूर्ति की आवश्यकता ही दीर्घकालीन संचय की दर को निर्धारित करती है। इस प्रकार, पारंपरिक अर्थशास्त्रियों के पास वास्तव में आर्थिक वृद्धि का नहीं, बल्कि संचय का सिद्धांत था।[8] महामंदी के समय अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक वृद्धि के महत्व पर विचार करना प्रारंभ किया, जब उन्होंने इसके साथ बढ़ती बेरोजगारी को देखा। इसी कारण बीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में वृद्धि को अधिकतर एक राजनीतिक मुद्दे (बेरोजगारी के समाधान के रूप में) के रूप में देखा गया, न कि एक स्वतंत्र आर्थिक विश्लेषण के विषय के रूप में।

वास्तव में, अधिकांश विद्वानों ने इस बात पर विचार नहीं किया कि लोग अपने वर्तमान उपभोग या अवकाश का त्याग क्यों करते हैं ताकि अपने वर्तमान और भविष्य के जीवन स्तर को बेहतर बना सकें। या यह कि "कल्याण" का अर्थ विभिन्न संस्कृतियों और समय के साथ कैसे बदलता है।
इसके स्थान पर, व्यक्तिगत व्यवहार को समझने के प्रयासों को "सामूहिक हित" की खोज में बदल दिया गया, चाहे उसका अर्थ कुछ भी क्यों न हो।[9] इस प्रकार, राजनेताओं को समाज के हित को परिभाषित करने का अधिकार मिल गया और तकनीकी विशेषज्ञों को उस लक्ष्य को प्राप्त करने के उपाय बनाने का कार्य सौंप दिया गया। निश्चित रूप से, उत्पादक और अनुपयोगी दोनों प्रकार की उद्यमिता के सिद्धांत के अभाव ने आर्थिक वृद्धि को नीतिगत उपायों से अलग करके समझना कठिन बना दिया। उत्पादकता की गति एक रहस्य बनी रही (सिवाय इसके कि इसे अधिक संसाधनों के निवेश का परिणाम बताया गया), और विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न वृद्धि के पैटर्न को समझाने के लिए बाहरी कारणों का सहारा लेना पड़ा।

अंततः, कई दशकों के अध्ययन के बावजूद वृद्धि के मॉडल अभी भी संतोषजनक व्याख्या और स्पष्ट विवरण देने में असफल रहे हैं। फिर भी, मुख्यधारा के सिद्धांतों के बावजूद वास्तविक दुनिया में परिवर्तन होता रहता है। भले ही उसकी दिशा का कभी–कभी अनुमान लगाया जा सके, उसकी विशेषताएँ और तीव्रता अनिश्चित रहती हैं। यह परिवर्तन परीक्षण और त्रुटि की प्रक्रिया का परिणाम होता है, जिसमें व्यक्ति प्रयोग करते हैं, जोखिम उठाते हैं और बार–बार चयन की प्रक्रिया के माध्यम से अपने निर्णयों में सुधार करते हैं। यह तब स्पष्ट होता है जब लोग वस्तुओं और सेवाओं के विभिन्न प्रदाताओं में से चयन करते हैं और अपने अनुभव, नई पसंद और उपलब्ध अवसरों के आधार पर अपने निर्णय बदलते हैं। इसी प्रकार, जब वे जोखिम उठाकर बाजार में अस्थायी प्रभाव स्थापित करने का प्रयास करते हैं ताकि उनके उद्यमशील प्रयासों को उपभोक्ताओं द्वारा स्वीकार किया जाए।[10]
इसके अतिरिक्त, लोग अपने समय और प्रतिभा का उपयोग कैसे करें जैसे अवकाश, कार्य या मानवीय पूँजी में निवेश यह भी इसी प्रक्रिया का हिस्सा है। वास्तव में, समय का अस्तित्व ही यह सुनिश्चित करता है कि तकनीक, उपलब्ध संसाधन और पसंद स्थिर या पूर्व–निर्धारित नहीं रहते। अन्यथा भविष्य केवल वर्तमान ज्ञान का पुनरावृत्ति मात्र होता।
इससे यह स्पष्ट होता है कि वृद्धि का कोई सिद्धांत केवल उत्पादक और अनुपयोगी उद्यमिता के आधार पर ही समझा जा सकता है, जैसा कि प्रारंभ में प्रस्तावित किया गया था।

---

[7] कॉयने, सी. जे., एवं लीसन, पी. टी. (2004)। अविकसित देशों की समस्याएँ। कैटो पत्रिका, 24(3), 235–249।

[8] डी जसै, ए. (1995)। स्वतंत्रता की कड़वी औषधि। आर. मिचनर (संपादक), स्वतंत्रता का संतुलनः राजनीतिक अर्थशास्त्र, विधि और शिक्षा (पृ. 31–60)।

[9] डी जसै, ए. (1996)। हायेकः कुछ छूटे हुए पक्ष। ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्र समीक्षा, 9(1), 107–118।

[10] फ्रे, बी. एस., एवं स्टुट्जर, ए. (2002)। प्रसन्नता अनुसंधान से अर्थशास्त्री क्या सीख सकते हैं? आर्थिक साहित्य पत्रिका, 40(2), 402–435।

निश्चित रूप से, इस कठिनाई से बचने के लिए वृद्धि को संसाधनों के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है, जिन्हें भौतिक मानकों के माध्यम से मापा जाए, न कि व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों के आधार परय और भविष्यवाणी के लिए आँकड़ों का विस्तार किया जा सकता है।[11] परन्तु ऐसे प्रयास अर्थशास्त्र की अपेक्षा लेखांकन और सांख्यिकी के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। अंततः, वृद्धि का अर्थशास्त्र ज्ञान की प्राप्ति, ज्ञान से प्राप्त लाभ, असंतुलन और प्रतिस्पर्धा का अध्ययन है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, ये सभी प्रक्रियाएँ प्रचलित संस्थागत ढाँचे के अंतर्गत घटित होती हैं, अर्थात् किसी देश के विकास के स्तर के अनुसार।

व्यापार, सरकारी हस्तक्षेप और वृद्धि :-

वृद्धि को प्रोत्साहित करने वाले नियमों पर पारंपरिक बहस में विभिन्न तंत्रों पर विचार किया गया है। इनमें से दो प्रमुख दृष्टिकोण विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

पहला दृष्टिकोण विनिमय और विशेषीकरण की भूमिका पर बल देता है। इसके अनुसार, जब व्यक्ति और समाज अपने–अपने कार्यों में विशेषज्ञता प्राप्त करते हैं और आपस में वस्तुओं तथा सेवाओं का आदान–प्रदान करते हैं, तो इससे उत्पादकता और समृद्धि में वृद्धि होती है।[12]

दूसरा दृष्टिकोण अधिक व्यापक है, जिसके अनुसार उच्च आय और संपत्ति प्राप्त करने की कुंजी यह है कि अधिक मात्रा में संसाधनों को संगठित किया जाए और उनका निवेश किया जाए।

इसी संदर्भ में सरकार की भूमिका सामने आती है। सरकार का हस्तक्षेप दो प्रकार से देखा जाता है।

एक ओर, वह व्यापार व्यवस्था और नीतियों का निर्माण तथा संचालन करती है ताकि सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त किए जा सकें। दूसरी ओर, वह उन संसाधनों को सक्रिय और उपयोग में लाने का प्रयास करती है जो अन्यथा लोगों की जानकारी के अभाव या कथित "बाजार की असफलताओं" के कारण निष्क्रिय रह जाते हैं।

व्यापार पर स्मिथ का दृष्टिकोण विस्तारित चयन :-

तथा कथित "स्मिथीय" दृष्टिकोण के अनुसार, विनिमय (आदान–प्रदान) आर्थिक वृद्धि का प्रमुख साधन है। इसका तर्क सरल, प्रभावशाली और आज भी प्रासंगिक माना जा सकता है, विशेष रूप से उद्यमिता के साथ। आदम स्मिथ इस बात से परिचित थे कि संसाधन सीमित होते हैं और अपने समय के ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर उन्होंने यह भी देखा कि तकनीकी प्रगति की भूमिका अपेक्षाकृत सीमित थी। फिर भी उन्होंने यह समझा कि व्यक्ति वस्तुओं और सेवाओं के आदान–प्रदान के माध्यम से अपने कल्याण में वृद्धि कर सकते हैं। विशेष रूप से, अलग–अलग रुचियों और संसाधनों वाले व्यक्ति, भिन्न कौशल और पसंद रखने वाले लोगों के साथ वस्तुओं का क्रय–विक्रय करके अपनी स्थिति में सुधार कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, व्यापार लाभकारी होता है क्योंकि यह चयन के अवसरों का विस्तार करता है और इस प्रकार प्रतिस्पर्धात्मक व्यवस्था के भीतर व्यक्तिगत कल्याण को बढ़ाता है।

इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो वृद्धि की समस्या मूलतः लेन–देन की लागत को कम करने की समस्या बन जाती है। जैसे परिवहन, सूचना और अनुबंध से संबंधित लागतकृताकि स्थानीय विनिमय को दूरस्थ विनिमय में बदला जा सके।[13]

जहाँ तक व्यापार व्यवस्था का प्रश्न है, सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि उपभोक्ताओं को मुक्त व्यापार से लाभ होता है। किन्तु प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया में उत्पादन कारकों के कुछ स्वामी लाभान्वित होते हैं, जबकि कुछ को हानि होती है। और चूँकि व्यक्ति एक साथ उपभोक्ता भी होते हैं और उत्पादन कारकों के स्वामी भी, इसलिए कुल प्रभाव सभी के लिए समान रूप से सकारात्मक नहीं होता। यही कारण है कि जब प्रतिस्पर्धा तीव्र होती है और व्यक्तियों को समायोजन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, तब मुक्त व्यापार के प्रति उत्साह कम हो जाता है।[14]

अंततः, सर्वोत्तम व्यापार व्यवस्था का चयन सामूहिक निर्णय का विषय बन जाता है। इसके लिए विभिन्न विकल्प संभव हैं: एक दृष्टिकोण उपयोगितावाद के विभिन्न रूपों पर आधारित है, जहाँ निर्णय बहुमत या विशेष बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं।

दूसरा दृष्टिकोण पारंपरिक आर्थिक विचारधारा से आता है, जो "प्रतिनिधि व्यक्ति" की अवधारणा के आधार पर पूर्ण मुक्त व्यापार का समर्थन करता है।

---

[11] गैलोर, ओ. (२००४)। ठहराव से वृद्धि तकः एकीकृत वृद्धि सिद्धांत। सीईपीआर चर्चा पत्र श्रृंखला, संख्या 4581।

[12] गैलोर, ओ., एवं वील, डी. एन. (1999)। माल्थसियन ठहराव से आधुनिक वृद्धि तक। अमेरिकी आर्थिक समीक्षा, 89, 150–154।

[13] गैलोर, ओ., एवं वील, डी. (2000)। जनसंख्या, प्रौद्योगिकी और वृद्धिः माल्थसियन व्यवस्था से जनसांख्यिकीय संक्रमण तक। अमेरिकी आर्थिक समीक्षा, 90, 806–828।

[14] ग्वार्टनी, जे., लॉसन, आर., एवं होल्कोम्ब, आर. (1999)। आर्थिक स्वतंत्रता और वृद्धि का वातावरण। संस्थागत एवं सैद्धांतिक अर्थशास्त्र पत्रिका, 4, 643–663।

तीसरा दृष्टिकोण मानव गरिमा (दबाव से मुक्ति) और संपत्ति अधिकारों के सिद्धांत पर आधारित है, जो स्वैच्छिक विनिमय के माध्यम से प्राप्त होते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार भी मुक्त व्यापार उचित है, क्योंकि किसी भी प्रकार का प्रतिबंध व्यक्ति की स्वतंत्र चयन की क्षमता को सीमित करता है और इसलिए स्वीकार्य नहीं है।[15]

वर्तमान समय में विशेषीकरण और ज्ञान :-

जिस समाज में व्यापार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, वहाँ वृद्धि को एक अन्य आधार पर भी प्रोत्साहन मिलता है वह है विशेषीकरण। यदि कोई व्यक्ति यह मानता है कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति विनिमय के माध्यम से भी हो सकती है, और व्यापार के अवसरों का लाभ उठाने की उसकी क्षमता उसके विनिमय की शर्तों पर निर्भर करती है, तो प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रयासों को उसी कार्य में केंद्रित करेगा जिसमें वह सबसे अधिक दक्ष है और जिसे अन्य लोग सबसे अधिक महत्व देते हैं। अतीत में विशेषीकरण की अवधारणा अपेक्षाकृत सरल थी। यह माना जाता था कि व्यक्ति कार्य करते–करते सीखने की प्रक्रिया के माध्यम से या बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभों का उपयोग करके अपने कौशल में सुधार करते हैं। परिणामस्वरूप, तकनीकी परिवर्तन के अभाव में भी उत्पादकता में वृद्धि हो जाती थी। किन्तु आज स्थिति बदल चुकी है और स्मिथ के विशेषीकरण के विचार में संशोधन की आवश्यकता है। अब विशेषीकरण का अर्थ किसी एक विषय में गहन ज्ञान होना नहीं, बल्कि नए ज्ञान को प्राप्त करने की क्षमता, तत्परता और प्रेरणा होना है।

पहले श्रम की उत्पादकता (और कल्याण) इस बात पर निर्भर करती थी कि व्यक्ति कार्य क्षेत्र में प्रवेश करते समय कितने कुशल हैं और वे एक निश्चित उत्पादन प्रक्रिया के अनुकूल कितने हैं, जो समय के साथ बहुत कम बदलती थी। इसके विपरीत, आज श्रमिकों को नई उत्पादन प्रक्रियाओं और परिस्थितियों के अनुसार शीघ्रता से स्वयं को ढालने के लिए तैयार रहना पड़ता है जैसे नई कंपनियाँ, नए उद्योग, और कभी–कभी नए देश भी। इस प्रकार, अब लचीलापन विशेषीकरण से अधिक महत्वपूर्ण हो गया है, या अधिक उचित रूप से कहा जाए तो "लचीला विशेषीकरण" पारंपरिक विशेषीकरण की जगह ले चुका है। निश्चित रूप से, व्यापार उन लोगों के लिए लगभग असीमित अवसर प्रदान करता है जो नई जानकारी को शीघ्रता से प्राप्त करते हैं, नया ज्ञान विकसित करते हैं, और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि उसे उद्यमशील गतिविधियों में परिवर्तित करते हैं, जिससे अंततः वृद्धि उत्पन्न होती है।[16]

व्यापार और व्यापार नीतियाँ :-

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्थिक वृद्धि के संदर्भ में व्यापार नीतियों की भूमिका पर होने वाली प्रसिद्ध बहस मूलतः गलत प्रश्न पर आधारित है। यह तर्क कि व्यापार अपने आप में वृद्धि को उत्पन्न करता है, अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्रों के लिए या उन देशों के लिए अधिक उपयुक्त है जहाँ प्राकृतिक संसाधनों की कमी होती है और जिन्हें निर्मित वस्तुओं से आसानी से प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। किन्तु उन परिस्थितियों में, जहाँ तुलनात्मक लाभ का सिद्धांत लागू नहीं होता, यह तर्क बहुत अधिक प्रभावी नहीं है। ऐसे मामलों में व्यापार वृद्धि के लिए आवश्यक तो है, परन्तु पर्याप्त नहीं है। वास्तव में, जब बड़े देश शामिल होते हैं, तब अंतरराष्ट्रीय व्यापार अनिवार्य भी नहीं रह जाता। इस दृष्टिकोण से निर्यात–प्रोत्साहन और आयात–प्रतिस्थापन की प्रसिद्ध बहस को समझा जा सकता है।

निस्संदेह, ये नीतियाँ अल्पकाल में कुछ उद्देश्यों को प्राप्त कर सकती हैं, विशेष रूप से तब जब वे उन संसाधनों को सक्रिय करने में सफल हों, जो पहले अन्य विकृतियों जैसे मुद्रा नियंत्रण या नियंत्रित पूँजी बाजार के कारण उपयोग में नहीं लाए जा सके थे। विशेष रूप से, निर्यात–प्रोत्साहन नीतियाँ तब प्रभावी हो सकती हैं जब वे उत्पादकों को बाहरी बाजारों में प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए प्रेरित करें, उन्हें नए उत्पादों और तकनीकों की जानकारी प्राप्त करने में सहायता दें, तथा विदेशी निवेश को आकर्षित करें, जिससे उत्पादन क्षमता और उत्पादकता में वृद्धि हो। दूसरी ओर, आयात–प्रतिस्थापन नीतियाँ तब वृद्धि उत्पन्न कर सकती हैं जब उनका विकल्प केंद्रीकृत नियोजन जैसी व्यवस्था हो। फिर भी, दीर्घकाल में ये दोनों रणनीतियाँ असफल सिद्ध होती हैं। स्थिर दृष्टिकोण से देखें तो ये नीतियाँ सापेक्ष कीमतों को विकृत कर देती हैं, जिसके परिणामस्वरूप उपभोग और उत्पादन की संरचना असंतुलित हो जाती है। जबकि गतिशील दृष्टिकोण से ये जोखिम उठाने की प्रवृत्ति जैसे निवेश और उद्यमिता को हतोत्साहित करती हैं और इसके स्थान पर लाभ प्राप्त करने के ऐसे प्रयासों को बढ़ावा देती हैं जिनमें वास्तविक उत्पादन नहीं होता। भ्रष्टाचार और पूँजी का गलत आवंटन इसके सबसे स्पष्ट परिणाम होते हैं।[17]

[15] हैगर्ड, एस. (1990)। परिधि से मार्ग। इथाका: कॉर्नेल विश्वविद्यालय प्रकाशन।

[16] हायेक, एफ. ए. (१९६०)। स्वतंत्रता का संविधान। शिकागो: शिकागो विश्वविद्यालय प्रकाशन।

[17] हॉजसन, जी. (1998)। संस्थागत अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण। आर्थिक साहित्य पत्रिका, 36, 166–192।

व्यापक वृद्धि और सरकारी हस्तक्षेप :-

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, वर्तमान मुख्यधारा का दृष्टिकोण व्यापक प्रकार की वृद्धि पर आधारित है। अर्थात् यह माना जाता है कि प्रति व्यक्ति कुल उत्पादन तब तक बढ़ सकता है, जब तक अधिक उत्पादन कारकों का उपयोग किया जाता रहे।औद्योगिक क्रांति से पहले इसका अर्थ यह था कि उच्च जीवन स्तर इस बात पर निर्भर करता था कि नई और संभवतः बेहतर भूमि प्राप्त की जा सके, जिससे कृषि उत्पादन में वृद्धि हो सके। वास्तव में, वृद्धि के प्रति निराशावाद इस तथ्य पर आधारित था कि भूमि और पूँजी दोनों पर घटते प्रतिफल लागू होते हैं, जिससे विस्तार के लिए प्रोत्साहन कम हो जाते हैं। हाल के समय में, पारंपरिक दृष्टिकोण का स्थान समाजवादी और नव–पारंपरिक दृष्टिकोणों ने ले लिया। समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार पूँजी–प्रधान नीतियाँ जैसे बाध्य निवेश और औद्योगीकरण उच्च जीवन स्तर प्राप्त करने का एकमात्र साधन हैं। जबकि नव–पारंपरिक दृष्टिकोण ने अनुसंधान, विकास और मानवीय पूँजी की भूमिका पर बल दिया।[18]

फलस्वरूप, समाजवादी व्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप को औद्योगीकरण और स्थिर निवेश को तीव्र करने के लिए आवश्यक माना गया, विशेषकर उन परिस्थितियों में जहाँ निजी व्यक्ति संसाधनों का उपयोग अन्य तरीकों से करना चाहते थे। दूसरी ओर, नव–पारंपरिक दृष्टिकोण में राज्य की भूमिका उन सकारात्मक बाह्य प्रभावों से जुड़ी मानी गई, जो अनुसंधान, विकास तथा मानवीय पूँजी में अतिरिक्त संसाधनों के निवेश से उत्पन्न होते हैं अर्थात् राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के उत्पादन तंत्र में अधिक संसाधनों का प्रवेश। सन् 1970 के दशक के अंत से व्यापक वृद्धि का यह दृष्टिकोण धीरे–धीरे अपना आकर्षण खोने लगा, जब इसकी सीमाएँ स्पष्ट होने लगीं। यद्यपि आज भी इसका प्रभाव काफी मजबूत है, फिर भी इसके सैद्धांतिक आधार अपेक्षाकृत कमजोर बने हुए हैं।

सामान्य परिस्थितियों में यह मान लेना उचित है कि पूँजी की सीमांत उत्पादकता शून्य से अधिक होती है और धीरे–धीरे घटती है। इसलिए दीर्घकालीन संचय दर (और इस प्रकार वृद्धि) का आकलन मुख्यतः कुछ अनुभवजन्य कारकों पर निर्भर करता है जैसे जनसंख्या परिवर्तन, समय–प्राथमिकता की दर (जो बचत और निवेश को प्रभावित करती है), तथा उत्पादन अंतर (अर्थात् वह दूरी जो किसी अर्थव्यवस्था को उसकी संभावित उत्पादन सीमा से अलग करती है)।

दुर्भाग्यवश, आर्थिक साहित्य इन कारकों पर बहुत अधिक प्रकाश नहीं डालता। जनसंख्या का अध्ययन अर्थशास्त्र के प्रत्यक्ष दायरे से बाहर माना जाता है, सिवाय इसके कि वह यह समझाने में सहायक हो कि संचय क्यों होता है या सरकारी हस्तक्षेप द्वारा किन बाह्य प्रभावों को नियंत्रित किया जाना चाहिए। समय–प्राथमिकता की दर को सामान्यतः स्थिर मान लिया जाता है और इसे केवल एक प्रतिनिधि व्यक्ति पर लागू माना जाता है, जो कम जोखिम वाले साधनों से मिलने वाले प्रतिफल के बराबर होती है। इसी प्रकार, उत्पादन अंतर के अध्ययन विभिन्न देशों के बीच प्रति व्यक्ति आय के अंतर को दर्शाते हैं और यह अनुमान लगाने का प्रयास करते हैं कि किसी देश को अन्य देशों के स्तर तक पहुँचने में कितना समय लगेगा। किन्तु वे यह स्पष्ट नहीं करते कि कुछ देश पीछे क्यों रह जाते हैं और अपेक्षा से कम उत्पादन क्यों करते हैं। संक्षेप में, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि व्यापक वृद्धि का पारंपरिक सिद्धांत जिसे बीसवीं शताब्दी के मध्य से "बाह्य वृद्धि" कहा जाने लगाकृएक सुदृढ़ सिद्धांत की अपेक्षा एक काल्पनिक अभ्यास अधिक प्रतीत होता है। यह नीति–निर्माताओं के हितों की पूर्ति तो करता है, परन्तु पद्धतिगत चुनौतियों का संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं करता।[19]

विकास नीतियाँ :-

यदि अत्यंत उदारवादी दृष्टिकोण को अलग कर दिया जाए, जो सामूहिक नीतियों की बहुत कम या बिल्कुल आवश्यकता नहीं मानता, तो वृद्धि और विकास को बढ़ावा देने में राज्य के हस्तक्षेप पर होने वाली बहस अब भी अनिर्णीत बनी हुई है। कोई भी इस बात पर प्रश्न नहीं उठाता कि यदि किसी देश में पूर्णतः सुचारु रूप से कार्य करने वाली बाजार व्यवस्था हो जहाँ लेन–देन की लागत शून्य हो और व्यक्ति उपलब्ध तकनीक का सर्वोत्तम उपयोग करके अपनी ज्ञात और स्थिर आवश्यकताओं को पूरा कर सकेंकृतो वहाँ आय संतोषजनक होगी और वह उपलब्ध तकनीक के सर्वोत्तम उपयोग को दर्शाएगी। फिर भी, चाहे नव–पारंपरिक विचारधारा द्वारा वर्णित आदर्श संसार कितना भी आकर्षक क्यों न हो, वास्तविक समस्या यह है कि ऐसा उपयुक्त वातावरण कैसे बनाया जाए जहाँ व्यक्ति अपने कल्याण को बढ़ाने का प्रयास कर सकें, उपलब्ध तकनीक का उपयोग कर सकें और नया ज्ञान अर्जित कर सकें। दूसरे शब्दों में, वास्तविक प्रश्न केवल सर्वोत्तम नीतियों और संगठनों की पहचान का नहीं है, बल्कि ऐसी संस्थाओं के निर्माण का है जो लेन–देन की लागत को कम

[18] होल्कोम्ब, आर. (1998)। उद्यमिता और आर्थिक वृद्धि। ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्र त्रैमासिक पत्रिका, 1(2), 45–62।

[19] होप्पे, एच. एच. (1994)। हायेक के शासन और सामाजिक विकास पर विचाररू एक आलोचना। ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्र समीक्षा, 7(1), 67–93।

करने में प्रभावी हों और ऐसे समूहों को बनने से रोकें जो प्रोत्साहनों को विकृत करते हैं तथा अनुचित लाभ को उत्पन्न और बनाए रखते हैं।[20]

इन बातों को अब अर्थशास्त्र के क्षेत्र में व्यापक रूप से स्वीकार किया जा चुका है। विशेष रूप से, अब यह माना जाता है कि प्रत्येक देश को अपनी परिस्थितियों के अनुसार स्वयं का मार्ग खोजना चाहिए, और तैयार किए गए आदर्श मॉडल जैसे कुछ प्रसिद्ध अंतरराष्ट्रीय नीतिगत ढाँचे को सीधे लागू करने के प्रयास प्रायः असफल होते हैं। साथ ही, यद्यपि यह स्वीकार किया जाता है कि संस्थाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, फिर भी यह धारणा बनी हुई है कि संस्थाओं के निर्माण के लिए उपयुक्त नीतियाँ अत्यंत उपयोगी हो सकती हैं।

पुरानी संस्थागत विचारधारा से प्राप्त शिक्षाएँ :-

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, आज संस्थाओं की भूमिका पर शायद ही कोई प्रश्न उठाता है। पुरानी संस्थागत विचारधारा के अनुसार, संस्थाएँ वे आदतें और व्यवहारिक प्रक्रियाएँ हैं जो किसी समुदाय के भीतर साझा और व्यापक रूप से स्वीकृत होती हैं। अनुकूल संस्थाएँ वे सांस्कृतिक तत्व हैं जो आर्थिक वृद्धि के प्रमुख घटकों जैसे व्यापार, उत्पादक उद्यमिता, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व, व्यक्तिगत पसंद, जोखिम उठाने की प्रवृत्ति और प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित करती हैं। यदि इस प्रकार की सांस्कृतिक संरचना को स्वीकार किया जाए, तो यह उन सामाजिक अनुबंधों या सामाजिक न्याय की अवधारणाओं को अस्वीकार कर देती है जो संपत्ति अधिकारों के उल्लंघन, जबरन पुनर्वितरण या विनिमय की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध को उचित ठहराती हैं। वृद्धि और विकास के संदर्भ में, पुरानी संस्थागत विचारधारा इस बात पर बल देती है कि अर्थशास्त्र को विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण पर ध्यान देना चाहिए। इन व्यवस्थाओं के प्रदर्शन को समझने के लिए विभिन्न घटनाओं के बीच तार्किक संबंधों को समझना आवश्यक है, जिसे केवल बहुविषयक दृष्टिकोण से ही ग्रहण किया जा सकता है। परंतु यह विचारधारा संस्कृति, अनौपचारिक नियमों और व्यवहारिक पैटर्न के पूर्ण विकासवादी सिद्धांत को विकसित करने में सफल नहीं हो पाई है। हम जानते हैं कि जड़ता (पथ–निर्भरता) ही वह मुख्य गतिशील तत्व है जिसे इस विचारधारा ने प्रभावी रूप से प्रस्तुत किया है। दुर्भाग्यवश, यह संस्थागत विकास की संतोषजनक व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं है। फिर भी, इस विचारधारा ने दो महत्वपूर्ण बिंदु प्रस्तुत किए हैं, जो भविष्य के शोध के लिए प्रेरणादायक हो सकते हैं। पहला, जब किसी क्षेत्र में जीवन स्तर संतोषजनक नहीं होता तो इसके तीन संभावित कारण हो सकते हैं।[21] एक संभावना यह है कि संस्थागत ढाँचा वास्तव में वृद्धि के अनुकूल हो, लेकिन औपचारिक नियमों का एक अलग समूह प्रभावी हो, जो उन आवश्यक तत्वों को बाधित कर दे जो वृद्धि को बढ़ावा देते। दूसरी संभावना यह है कि प्रमुख संस्कृति (जो साझा आदतों और व्यवहारों में निहित होती है) ऐसी नैतिक प्रणाली को बढ़ावा देती हो जो वृद्धि के अनुकूल न हो। उदाहरण के लिए, वे समाज जहाँ धर्म की भूमिका अत्यधिक होती है और सामाजिक एकता किसी स्थापित अभिजात वर्ग के चारों ओर केंद्रित होती है, वहाँ व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और उत्पादक उद्यमिता को अक्सर हतोत्साहित किया जाता है। इसी प्रकार, जिन समाजों में जातीय या जनजातीय तनाव होते हैं, वहाँ लोग स्वतंत्रता को सीमित करके स्थिर लेकिन लाभ–आधारित व्यवस्था को अपनाते हैं, जिससे संघर्ष कम होता है, परंतु विकास की संभावनाएँ भी घट जाती हैं। तीसरी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब पथ–निर्भरता टूट जाती है, लेकिन कोई नई संस्थागत संरचना विकसित नहीं होती। इसका अर्थ यह नहीं कि लोग बिना किसी व्यवस्था के कार्य कर रहे हैं, बल्कि यह कि उनकी आदतें कमजोर हो जाती हैं, आपसी संपर्क सीमित हो जाता है, और समय की प्राथमिकता बढ़ जाने से दीर्घकालिक दृष्टि कम हो जाती है, जिससे विकास के अवसर खो जाते हैं।[22]

आधुनिक विकास अर्थशास्त्र में पथ–निर्भरता की यह अवधारणा महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत करती है। यद्यपि जड़ता स्वयं बहुत अधिक व्याख्यात्मक शक्ति नहीं रखती, फिर भी यह स्पष्ट करती है कि केवल विकास नीतियाँ ही पर्याप्त नहीं होतीं। यदि नीति–निर्माता संस्थागत ढाँचे को बदलने और सुधारने का प्रयास करते हैं, तो यह अक्सर विफल हो जाता है, क्योंकि संस्कृति को आदेश देकर नहीं बदला जा सकता। दूसरी ओर, यदि कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता, तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि सभी व्यक्तियों की संस्कृति और व्यवहार समान नहीं होते। मुख्यधारा के दृष्टिकोण के विपरीत, कोई "सामान्य व्यक्ति" या "सामान्य संस्कृति" जैसी कोई एकरूप अवधारणा अस्तित्व में नहीं है। इसके अतिरिक्त, जड़ता की अवधारणा यह भी स्पष्ट करती है कि जब यह स्वयं टूटती है, तो कौन–सी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और पिछले कुछ दशकों में यही स्थिति अधिक बार देखने को मिली है। इस दृष्टि से, यही आधुनिक विकास अर्थशास्त्र की एक प्रमुख विशेषता है। पुरानी संस्थागत विचारधारा के अनुसार, संस्थाएँ सामान्यतः स्वयं को सुदृढ़ करने वाली प्रणाली होती हैं, जो केवल बाहरी आघातों के कारण टूटती हैं जैसे आक्रमण, नेतृत्व में बड़े परिवर्तन, या कीमतों में अचानक बदलाव, जो नई आदतों और व्यवहारों को जन्म देते हैं।

---

[20] जान्सेन, एम., एवं नॉर्डास, एच. के. (2004)। संस्थाएँ, व्यापार नीति और व्यापार प्रवाह। सीईपीआर चर्चा पत्र श्रृंखला, संख्या 4418।

[21] कार्लसन, एस. (2005)। आर्थिक स्वतंत्रता सूचकांक की सीमाएँ। मिजेस संस्थान।

[22] क्रैविस, आई. (1970)। वृद्धि के सहायक के रूप में व्यापार। आर्थिक पत्रिका, 850–872।

यदि ऐसा है, तो आर्थिक विकास का इतिहास विभिन्न संस्थागत संरचनाओं के विकास की एक यात्रा बन जाता है, जिसमें बाहरी प्रभाव और विचारधाराएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। हाल के वर्षों में यह प्रक्रिया और तेज हो गई है, क्योंकि वैश्विक स्तर पर सूचना और संचार के साधन सुलभ हो गए हैं। अंततः, जो अर्थशास्त्री नीतिनिर्माण में रुचि रखते हैं, उनके लिए यह दृष्टिकोण बहुत संतोषजनक नहीं है। जब तक कि उन्हें पथ–निर्भरता से बाहर निकलने या कमजोर होती सांस्कृतिक संरचनाओं में हस्तक्षेप करने का अवसर न मिले। इस संदर्भ में, नई संस्थागत विचारधारा एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।[23]

नई संस्थागत विचारधारा :-

नई संस्थागत विचारधारा के अनुसार, आर्थिक प्रदर्शन निश्चित नियमों के समूह के अंतर्गत होता है, जिन्हें इसकी शब्दावली में "संस्थाएँ" कहा जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, सामाजिक वैज्ञानिक विशेषकर अर्थशास्त्री का कार्य इन नियमों की प्रकृति तथा उनके निर्माण और क्रियान्वयन की प्रक्रिया का अध्ययन करना है। सामान्यतः दो प्रकार की क्रियात्मक गतिशीलताएँ पहचानी जाती हैं। पहली गतिशीलता उन हित समूहों के दबाव का परिणाम होती है, जो अपने लाभ को उत्पन्न करने या सुरक्षित रखने के उद्देश्य से नियमों को प्रभावित करते हैं। व्यापार या औद्योगिक नीतियाँ प्रायः इसी श्रेणी में आती हैं। दूसरी ओर, संस्थाएँ एक प्रतिस्पर्धात्मक प्रक्रिया का परिणाम भी हो सकती हैं, जिसमें नियम इस प्रकार विकसित और चयनित होते हैं कि वे व्यक्तियों के बीच परस्पर क्रिया को अधिक प्रभावी बनाएं। कुछ परिस्थितियों में पहला प्रकार हावी हो जाता है, जिससे समाज में गिरावट आने लगती है, क्योंकि लोग उत्पादन और विकास के बजाय केवल लाभ प्राप्त करने वाली गतिविधियों पर ध्यान केंद्रित करने लगते हैं। इसके विपरीत, जब प्रतिस्पर्धात्मक प्रक्रिया प्रभावी होती है, तो वह एक ऐसा सशक्त और आत्मनिर्भर ढाँचा उत्पन्न करती है जिसमें आर्थिक गतिविधियाँ फलती–फूलती हैं। निस्संदेह, यह सुनिश्चित करने के प्रयास भी किए गए हैं कि "अच्छे" नियमों को बनाए रखा जाए और "खराब" नियमों को समाप्त किया जाए। यही उन अर्थशास्त्रियों के शोध का मुख्य केंद्र रहा है, जिन्हें संवैधानिक अर्थशास्त्री कहा जाता है। उनका विश्वास है कि यदि ऐसा संविधान बनाया जाए जो शासन के दुरुपयोग को सीमित करे और जिसे उचित रूप से चुने गए राजनीतिक विचारक लागू करें, तो यह स्वार्थी समूहों को नियंत्रित रख सकता है, बाजार शक्तियों को विकसित होने का अवसर देता है और विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करता है।[24]

र्तमान समय में, नई संस्थागत विचारधारा विकास के लिए नव–पारंपरिक दृष्टिकोण का आधार बन चुकी है। एक ओर यह मुख्यधारा अर्थशास्त्र की उस प्रवृत्ति को बनाए रखती है, जो पिछले दशकों से सर्वोत्तम विकल्प चुनने पर आधारित रही है। दूसरी ओर, यह मानक दृष्टिकोण से भी आकर्षक है।

यह यह भी मानती है कि संस्थाएँ केवल सांस्कृतिक विरासत का परिणाम नहीं हैं, बल्कि मानव द्वारा किए गए चुनावों का परिणाम हैं। इस प्रकार यह संस्थागत निर्माण के क्षेत्र में व्यापक प्रयोगों को प्रोत्साहित करती है।

पुराना और नया: यह चक्र क्या दर्शाता है :-

जैसा कि अक्सर उन विचारधाराओं के साथ होता है जिनका केंद्र समान होता है लेकिन मूल सिद्धांत अलग–अलग होते हैं, एक समन्वित सिद्धांत प्रस्तुत करने का आकर्षण बना रहता है। संस्थागत अर्थशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं रहा है। यद्यपि कई समन्वित रूप सामने आए हैं, परंतु उनका मुख्य विचार यह है कि व्यक्ति सामान्यतः आदतों और प्रथाओं के एक ढाँचे के भीतर कार्य करते हैं, किन्तु वे सक्रिय भूमिका भी निभा सकते हैं। वे अपनी आवश्यकताओं और महत्वाकांक्षाओं के अनुसार वर्तमान व्यवस्थाओं को बदलने का प्रयास करते हैं, या नए पर्यावरणीय परिस्थितियों, सूचना अथवा तकनीकी प्रगति के अनुसार अपने व्यवहार को समायोजित करते हैं। पहली स्थिति में उनकी पसंद बाहरी होती है, जबकि दूसरी स्थिति में यह आंतरिक रूप से विकसित होती है। फिर भी, दोनों ही परिस्थितियों में ये प्रयास नई आदतों को जन्म दे सकते हैं, जो आगे चलकर संस्थागत ढाँचे का हिस्सा बन जाती हैं।

इसी प्रक्रिया को एक प्रमुख विचारक ने "क्रिया–सूचना चक्र" कहा है, जिसमें परिस्थितियों के अनुसार पसंद बाहरी और आंतरिक दोनों हो सकती है। यह महत्वपूर्ण तंत्र पुरानी और नई दोनों संस्थागत दृष्टियों को जोड़ता है।[25]

विकास के संदर्भ में यह चक्र यह समझाने में सहायता करता है कि कई बार वृद्धि क्यों प्रारंभ नहीं हो पाती, या क्यों कुछ समय बाद रुक जाती है और कुछ देश ठहराव की स्थिति में फँस जाते हैं। ऐसा तब होता है जब कुछ समूह ऐसी नई व्यवस्थाएँ स्थापित करने में सफल हो जाते हैं जो केवल लाभ प्राप्त करने वाली गतिविधियों को बढ़ावा देती हैं और विकास

[23] मिजेस, एल. (1949)। मानवीय क्रिया। न्यू हेवनः येल विश्वविद्यालय प्रकाशन।

[24] ओल्सन, एम. (1982)। राष्ट्रों का उत्थान और पतन। न्यू हेवनः येल विश्वविद्यालय प्रकाशन।

[25] पोमेरेन्ज, के. (2000)। महान विभाजनः चीन, यूरोप और आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था का निर्माण। प्रिंसटनः प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रकाशन।

के लिए आवश्यक तत्वों को कमजोर कर देती हैं। जब ये व्यवस्थाएँ सामूहिक व्यवहार का हिस्सा बन जाती हैं, तो आर्थिक ठहराव उत्पन्न होता है। दूसरी ओर, यह चक्र संस्थागत दृष्टिकोण की दो प्रमुख सीमाएँ भी उजागर करता है।
पहली सीमा यह है कि यह स्पष्ट नहीं करता कि कुछ देश ठहराव से बाहर निकलने में सफल क्यों होते हैं, जबकि अन्य नहींय या क्यों कुछ देश लंबे समय तक अच्छी आर्थिक प्रगति के बाद भी ठहराव की स्थिति में पहुँच जाते हैं। यद्यपि इसको समझाने के लिए स्वार्थ–आधारित समूहों की गतिशीलता का उल्लेख किया जा सकता है, परंतु इसके लिए एक ठोस सिद्धांत की आवश्यकता होती है, जो अभी उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह चक्र स्थिति का वर्णन तो करता है, परंतु पूर्ण व्याख्या नहीं दे पाता।

दूसरी सीमा यह है कि जब संस्थागत ढाँचे जैसे संस्कृति, आदतें और व्यवहारकृकी विशेषताएँ या उनकी वैधता अनिश्चित हो जाती हैं, तब क्या होता है, यह स्पष्ट नहीं है। यह स्थिति आज के समय में अधिक सामान्य होती जा रही है और इसे संक्रमण की समस्या का मूल भी माना जा सकता है। पिछले कुछ दशकों में संस्कृति की स्पष्ट पहचान की धारणा बदल गई है और कई मामलों में कमजोर भी हुई है। आज लोग विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के जीवन, उनके व्यवहार और उनके नैतिक मूल्यों को देख और समझ सकते हैं।[26] इससे व्यक्तियों में पारंपरिक व्यवहारों पर प्रश्न उठाने की प्रवृत्ति बढ़ी है, जिन्हें पहले बिना सोचे–समझे स्वीकार कर लिया जाता था। शिक्षा ने भी विज्ञान और तकनीक पर अधिक बल दिया है, जबकि नैतिक विषयों का महत्व कम हुआ है। इसके अतिरिक्त, पारिवारिक संबंधों में भी शिथिलता आई है और लोगों की गतिशीलता बढ़ने से दीर्घकालिक व्यक्तिगत संबंधों का महत्व कम हुआ है।

परिणामस्वरूप, विशेषकर युवा पीढ़ी अब आदतों और परंपराओं को स्वाभाविक नहीं मानती और न ही वे अपने सांस्कृतिक आधार को पूरी तरह समझती हैं। जब जड़ता कमजोर पड़ती है, तो नैतिक सीमाएँ धीरे–धीरे समाप्त हो जाती हैं और उनकी जगह या तो बाहरी प्रभावों से लिए गए लक्ष्य स्थापित हो जाते हैं या फिर नए प्रकार की स्वार्थ–आधारित व्यवस्थाएँ विकसित हो जाती हैं। विभिन्न क्षेत्रों जैसे मध्य और पूर्वी यूरोप तथा एशिया के कई देशों के हाल के अनुभव इस प्रक्रिया के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यवस्थाएँ केवल किसी बाहरी आघात के कारण ही नहीं टूटतीं, बल्कि अन्य कारणों से भी बदल सकती हैं। यह एक महत्वपूर्ण और अभी भी खुला प्रश्न है।

इसी प्रकार की आलोचना नियमों के संदर्भ में भी की जा सकती है। यह माना जाता है कि नियम तब बदलते हैं जब नए समूह पुराने प्रभावशाली समूहों को हटाकर सत्ता में आते हैं या जब पुराने समूहों के हित बदल जाते हैं। परंतु वास्तविकता यह है कि व्यवस्थाएँ तब भी टूट जाती हैं जब समाज का एक बड़ा भाग उन्हें स्वीकार करना बंद कर देता है चाहे वह नैतिक मूल्यों में परिवर्तन के कारण हो या उनके परिणामों से असंतोष के कारण।[27]
पहली स्थिति में परिवर्तन वैचारिक बदलाव से उत्पन्न होता है, जबकि दूसरी में यह निराशा का परिणाम होता है। इस प्रकार का परिवर्तन अनेक संभावनाओं को जन्म देता है, जिनका परिणाम परिस्थितियों और बाहरी प्रतिक्रियाओं पर निर्भर करता है। विकास और परिवर्तन की सफलता इन्हीं तत्वों के संयोजन पर निर्भर करती है। फिर भी, यह पूरी प्रक्रिया अभी भी उस संस्थागत ढाँचे द्वारा पूरी तरह समझाई नहीं जा सकी है, जिस पर यह चक्र आधारित है।

विकास अर्थशास्त्र और सक्रिय नीतिनिर्माण :-
यह माना गया है कि विकास तब होता है जब वे तत्व हटा दिए जाते हैं जो उद्यमिता और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को हतोत्साहित करते हैं, विनिमय के अवसरों का विस्तार किया जाता है और संपत्ति अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित की जाती है। प्रश्न यह उठता है कि क्या यह सक्रिय नीतिनिर्माण के साथ टकराव में है? वास्तव में, दक्षिण–पूर्व एशिया के कई सफल उदाहरण यह दर्शाते हैं कि वहाँ के आर्थिक "चमत्कार" व्यापक सरकारी हस्तक्षेप के साथ जुड़े हुए थे। इस हस्तक्षेप ने घरेलू मूल्य संरचना को प्रभावित किया, संसाधनों का पुनर्वितरण किया, और साथ ही संपत्ति अधिकारों की रक्षा तथा बाहरी उन्मुख नीतियों के माध्यम से व्यापार को प्रोत्साहित किया। ये उदाहरण दो महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।

पहला तथ्य यह है कि कानून के शासन की स्थापना अर्थात् पूर्वानुमेय नियम और सीमित मनमानी शक्ति कभी–कभी सरकारी हस्तक्षेप के नकारात्मक प्रभावों पर भारी पड़ सकती है। दूसरा तथ्य राजनीतिक व्यवस्था के नियमों से संबंधित है। कुछ परिस्थितियों में ऐसा होता है कि कोई सरकार आर्थिक स्वतंत्रता के कुछ तत्वों को स्थापित या मजबूत करना चाहती है, परंतु सत्ता में बने रहने के लिए उसे प्रभावशाली हित समूहों की माँगों को भी पूरा करना पड़ता है। ये समूह

[26] क्विगले, सी. (1961)। सभ्यताओं का विकास। न्यूयॉर्क मैकमिलन।
[27] रैनिस, जी. (2004)। विकास चिंतन का विकासरू सिद्धांत और नीति। येल विश्वविद्यालय।

इतने शक्तिशाली नहीं होते कि वे प्रतिस्पर्धा को पूरी तरह रोक सकें, लेकिन इतने प्रभावशाली अवश्य होते हैं कि वे सत्तारूढ़ नेतृत्व को हटाने की क्षमता रखते हैं।[28]

ऐसी स्थिति में, यदि सत्तारूढ़ नेतृत्व विकास को बढ़ावा देना चाहता है, तो उसे प्रमुख समूहों को लाभ प्रदान करने पड़ते हैं, ताकि वे एक ऐसा संस्थागत वातावरण बना सकें जो विकास के अनुकूल हो। इस प्रकार, शासक वर्ग को दोहरे दायित्व का सामना करना पड़ता है एक ओर वैधता बनाए रखने के लिए उपयुक्त नीतियाँ लागू करना, और दूसरी ओर उन समूहों को संतुष्ट करना जो लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति रखते हैं। यह प्रक्रिया अक्सर जटिल होती है, क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था कई छोटे लेकिन प्रभावशाली समूहों से प्रभावित होती है, या ऐसे गठबंधनों से, जिनमें राजनेता और प्रशासनिक अधिकारी भी शामिल हो सकते हैं, और जो नए नियमों के लागू होने से नुकसान उठाने की आशंका रखते हैं।

इस प्रक्रिया की विशेषताएँ और परिणाम विकास की संभावनाओं को निर्धारित करते हैं। यह या तो अल्पकालिक वृद्धि ला सकती है, या दीर्घकालिक स्थिर विकास को जन्म दे सकती है। अंततः, सफलता उन्हीं मामलों में मिलती है जहाँ सरकारी नीतियाँ पर्याप्त आर्थिक स्वतंत्रता सुनिश्चित करती हैं और शासक वर्ग को एक साझा लक्ष्य के माध्यम से वैधता प्राप्त होती है। यह लक्ष्य ऐसा होना चाहिए जो राजनीतिक नेतृत्व, लाभ–आधारित समूहों और सामान्य जनता के बीच एक प्रकार का सामाजिक समझौता स्थापित कर सके। उदाहरण के रूप में, एशिया के कई देशों में यह साझा लक्ष्य व्यापक जनसंख्या के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना था।[29]

यह कहना उचित नहीं होगा कि जहाँ विकास नहीं हो पाया, वहाँ लोगों में बेहतर जीवन की आकांक्षा का अभाव था। बल्कि इसका अर्थ यह है कि जब लोगों की प्राथमिक चिंता अपने जीवन स्तर में सुधार होती है, तब शासक समूह स्वयं को अधिक असुरक्षित महसूस करते हैं और अत्यधिक स्वार्थपूर्ण व्यवहार से बचते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी विकास प्रक्रिया की विश्वसनीयता और उसकी स्थिरता इस बात पर निर्भर करती है कि विरोधी समूहों को कितनी प्रभावी ढंग से नियंत्रित किया गया है, नए नियम आर्थिक स्वतंत्रता को कितना प्रोत्साहित करते हैं, और सरकारी नीतियाँ किस हद तक बाजार की प्राकृतिक प्रक्रिया के समान परिणाम उत्पन्न करती हैं, बिना अत्यधिक अक्षमताओं के। हाल के इतिहास से स्पष्ट है कि इन सभी शर्तों को पूरा करना विश्व के कई विकसित और अविकसित क्षेत्रों में अत्यंत कठिन है।

निष्कर्षात्मक टिप्पणी :-

आर्थिक वृद्धि को समझना आर्थिक अध्ययन का मूल उद्देश्य है। वास्तव में यह जानना कि व्यक्ति और समाज किन परिस्थितियों में अपने जीवन–स्तर को बेहतर बनाने में सफल होते हैं, अर्थशास्त्र का केंद्रीय लक्ष्य है। यह संयोग नहीं है कि यह विषय एक सामाजिक विज्ञान के रूप में विकसित हुआ और वैज्ञानिक पद्धति द्वारा सामाजिक घटनाओं को समझाने का प्रयास किया गया, विशेष रूप से उस समय से जब प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। विकास के दृष्टिकोण से मानव इतिहास को सामान्यतः तीन प्रमुख चरणों में विभाजित किया जा सकता है। पहला चरण उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक का है, जिसमें प्रति व्यक्ति आय में बहुत धीमी वृद्धि हुई। तकनीकी प्रगति होने पर भी उत्पादन में जो वृद्धि होती थी, वह मुख्यतः बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने में ही खर्च हो जाती थी। परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय लगभग स्थिर बनी रहती थी।[30] दूसरा चरण औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भ से जुड़ा है। इस अवधि में तकनीकी नवाचार में वृद्धि हुई और पूंजी निवेश बढ़ा। इसके कारण उत्पादन की गति तेज हुई और जनसंख्या वृद्धि से अधिक हो गई, जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि संभव हुई। तीसरा चरण उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से प्रारम्भ होकर आज तक जारी है। इस काल में तकनीकी प्रगति तीव्र हुई, मानव पूंजी में निवेश बढ़ा, जीवन प्रत्याशा में वृद्धि हुई और जनसंख्या वृद्धि दर में कमी आई। इन सभी कारकों ने मिलकर प्रति व्यक्ति आय को और अधिक बढ़ाया।

किसी भी प्रभावी वृद्धि सिद्धांत को इन तीनों चरणों की व्याख्या करनी चाहिएकृक्यों ये परिवर्तन हुए, कब हुए, और क्यों कुछ देशों में हुए जबकि अन्य में नहीं। इस अध्ययन में इस समस्या को दो भागों में विभाजित किया गया है। पहला भाग वृद्धि के तर्क से संबंधित है अर्थात वे प्रक्रियाएँ जो आर्थिक वृद्धि को उत्पन्न करती हैं। दूसरा भाग उन परिस्थितियों और बाधाओं से संबंधित है, जो वृद्धि को रोक सकती हैं, भले ही उसके लिए आवश्यक साधन उपलब्ध हों। आधुनिक वृद्धि सिद्धांतों की सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। परंपरागत दृष्टिकोण यह मानता है कि वृद्धि केवल पूंजी संचय पर निर्भर करती है, परंतु यह स्पष्ट नहीं करता कि विभिन्न देशों में निवेश का स्तर अलग–अलग क्यों होता है। इसी प्रकार, नवीन दृष्टिकोण

[28] रोड्रिक, डी. (2003)। वृद्धि की रणनीतियाँ। राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो कार्यपत्र श्रृंखला, संख्या 10050।

[29] सेन, ए. के. (1984)। जीवन स्तर। ऑक्सफोर्ड आर्थिक पत्र, 36, 74–90।

[30] सेन, ए. के. (1998)। मृत्यु दरः आर्थिक सफलता और विफलता का संकेतक। आर्थिक पत्रिका, 108(446), 1–24।

तकनीक और मानव पूंजी पर बल देता है, लेकिन यह भी दीर्घकालिक ऐतिहासिक परिवर्तनों और विभिन्न देशों के अनुभवों की संतोषजनक व्याख्या नहीं कर पाता।

संस्थागत दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है, क्योंकि यह बताता है कि कुछ सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ वृद्धि को प्रोत्साहित करती हैं, जबकि अन्य उसे बाधित करती हैं। फिर भी यह दृष्टिकोण पूरी तरह पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह यह स्पष्ट नहीं करता कि सांस्कृतिक संरचनाएँ कब और कैसे बदलती हैं। वृद्धि की वास्तविक प्रक्रिया को समझने के लिए विनिमय (व्यापार) की लागत और उत्पादक उद्यमिता को प्रमुख कारक माना जा सकता है। प्रारम्भिक काल में सीमित व्यापार और कम जीवन प्रत्याशा के कारण विकास की गति धीमी रही। जैसे–जैसे परिवहन सस्ता और सुरक्षित हुआ, बाजार का विस्तार हुआ और उद्यमिता को प्रोत्साहन मिला। इससे तकनीकी प्रगति और उत्पादन में वृद्धि हुई। आगे चलकर शिक्षा, स्वास्थ्य और मानव पूंजी में निवेश ने इस प्रक्रिया को और मजबूत किया।[31]

भविष्य की दृष्टि से यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्या एक नया चरण विकसित होगा। वर्तमान में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। ज्ञान और विचारों का तीव्र आदान–प्रदान, तथा लोगों की बढ़ती गतिशीलता। यदि ये प्रवृत्तियाँ जारी रहती हैं, तो संभव है कि आर्थिक वृद्धि और विकास के बीच संबंध और अधिक गहरा हो जाए। संक्षेप में, भविष्य में आर्थिक वृद्धि केवल अवसरों के उपयोग पर निर्भर नहीं रहेगी, बल्कि उन अवसरों के निर्माण की क्षमता पर भी निर्भर करेगी। यदि संस्थागत ढांचा मजबूत और स्वतंत्रता–समर्थक होगा, तो नवाचार और उत्पादकता बढ़ेगी। इसके विपरीत, यदि संस्थागत संरचना कमजोर होती है, तो केवल ठहराव ही नहीं बल्कि आर्थिक गिरावट भी संभव है।

संदर्भ सूची

1. असेमोग्लू, डी., जॉनसन, एस., एवं रॉबिन्सन, जे. (2004)। दीर्घकालीन वृद्धि का मूल कारण के रूप में संस्थाएँ। राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो कार्यपत्र श्रृंखला, संख्या 10481।
2. आर्न्ट, एच. डब्ल्यू. (1987)। आर्थिक विकासः एक विचार का इतिहास। शिकागोः शिकागो विश्वविद्यालय प्रकाशन।
3. बॉअर, पी. (1998)। निर्वाह, व्यापार और विनिमय। जे. डॉर्न, एस. हैंके तथा ए. वाल्टर्स (संपादक), विकास अर्थशास्त्र में क्रांति (पृ. 275–287)। वॉशिंगटन डी.सी.ः कैटो संस्थान।
4. बाउमोल, डब्ल्यू. (1990)। उद्यमिताः उत्पादक, अनुत्पादक तथा विनाशकारी। राजनीतिक अर्थशास्त्र पत्रिका, 98(5), 893–921।
5. बोएटके, पी., एवं कॉयने, सी. (2003)। उद्यमिता और विकासः कारण या परिणाम? आर. कोप्पल (संपादक), ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्र और उद्यमिता अध्ययन (पृ. 67–88)। एम्स्टर्डमः जेएआई।
6. कैसेली, एफ. (2004)। देशों के बीच आय के अंतर का विश्लेषण। राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो कार्यपत्र श्रृंखला, संख्या 10828।
7. कॉयने, सी. जे., एवं लीसन, पी. टी. (2004)। अविकसित देशों की समस्याएँ। कैटो पत्रिका, 24(3), 235–249।
8. डी जसै, ए. (1995)। स्वतंत्रता की कड़वी औषधि। आर. मिचनर (संपादक), स्वतंत्रता का संतुलनः राजनीतिक अर्थशास्त्र, विधि और शिक्षा (पृ. 31–60)।
9. डी जसै, ए. (1996)। हायेकः कुछ छूटे हुए पक्ष। ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्र समीक्षा, 9(1), 107–118।
10. फ्रे, बी. एस., एवं स्टुट्जर, ए. (2002)। प्रसन्नता अनुसंधान से अर्थशास्त्री क्या सीख सकते हैं? आर्थिक साहित्य पत्रिका, 40(2), 402–435।
11. गैलोर, ओ. (२००४)। ठहराव से वृद्धि तकः एकीकृत वृद्धि सिद्धांत। सीईपीआर चर्चा पत्र श्रृंखला, संख्या 4581।
12. गैलोर, ओ., एवं वील, डी. एन. (1999)। माल्थसियन ठहराव से आधुनिक वृद्धि तक। अमेरिकी आर्थिक समीक्षा, 89, 150–154।
13. गैलोर, ओ., एवं वील, डी. (2000)। जनसंख्या, प्रौद्योगिकी और वृद्धिः माल्थसियन व्यवस्था से जनसांख्यिकीय संक्रमण तक। अमेरिकी आर्थिक समीक्षा, 90, 806–828।
14. ग्वार्टनी, जे., लॉसन, आर., एवं होल्कोम्ब, आर. (1999)। आर्थिक स्वतंत्रता और वृद्धि का वातावरण। संस्थागत एवं सैद्धांतिक अर्थशास्त्र पत्रिका, 4, 643–663।
15. हैगर्ड, एस. (1990)। परिधि से मार्ग। इथाकाः कॉर्नेल विश्वविद्यालय प्रकाशन।
16. हायेक, एफ. ए. (१९६०)। स्वतंत्रता का संविधान। शिकागोः शिकागो विश्वविद्यालय प्रकाशन।
17. हॉजसन, जी. (1998)। संस्थागत अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण। आर्थिक साहित्य पत्रिका, 36, 166–192।
18. होल्कोम्ब, आर. (1998)। उद्यमिता और आर्थिक वृद्धि। ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्र त्रैमासिक पत्रिका, 1(2), 45–62।

[31] वोइग्ट, एस. (1999)। संवैधानिक परिवर्तन की व्याख्याः एक सकारात्मक आर्थिक दृष्टिकोण। चेल्टनहैमरू एडवर्ड एल्गर।

19. होप्पे, एच. एच. (1994)। हायेक के शासन और सामाजिक विकास पर विचाररू एक आलोचना। ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्र समीक्षा, 7(1), 67–93।
20. जान्सेन, एम., एवं नॉर्डास, एच. के. (2004)। संस्थाएँ, व्यापार नीति और व्यापार प्रवाह। सीईपीआर चर्चा पत्र श्रृंखला, संख्या 4418।
21. कार्लसन, एस. (2005)। आर्थिक स्वतंत्रता सूचकांक की सीमाएँ। मिजेस संस्थान।
22. क्रैविस, आई. (1970)। वृद्धि के सहायक के रूप में व्यापार। आर्थिक पत्रिका, 850–872।
23. मिजेस, एल. (1949)। मानवीय क्रिया। न्यू हेवनः येल विश्वविद्यालय प्रकाशन।
24. ओल्सन, एम. (1982)। राष्ट्रों का उत्थान और पतन। न्यू हेवनः येल विश्वविद्यालय प्रकाशन।
25. पोमेरेन्ज, के. (2000)। महान विभाजनः चीन, यूरोप और आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था का निर्माण। प्रिंसटनः प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रकाशन।
26. क्विगले, सी. (1961)। सभ्यताओं का विकास। न्यूयॉर्क मैकमिलन।
27. रैनिस, जी. (2004)। विकास चिंतन का विकासरू सिद्धांत और नीति। येल विश्वविद्यालय।
28. रोड्रिक, डी. (2003)। वृद्धि की रणनीतियाँ। राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो कार्यपत्र श्रृंखला, संख्या 10050।
29. सेन, ए. के. (1984)। जीवन स्तर। ऑक्सफोर्ड आर्थिक पत्र, 36, 74–90।
30. सेन, ए. के. (1998)। मृत्यु दरः आर्थिक सफलता और विफलता का संकेतक। आर्थिक पत्रिका, 108(446), 1–24।
31. वोइग्ट, एस. (1999)। संवैधानिक परिवर्तन की व्याख्याः एक सकारात्मक आर्थिक दृष्टिकोण। चेल्टनहैमरू एडवर्ड एल्गार।